सामयिक प्रकाशन

समाज और इतिहास

नवीन श्रृंखला

19

वेदोत्तर साहित्य में चिन्तन का विकास

डॉ. ज्योतिष जोशी

वरिष्ठ अध्येता

प्रधानमंत्री संग्रहालय एवं पुस्तकालय

2024

प्रधानमंत्री संग्रहालय एवं पुस्तकालय

© डॉ. ज्योतिष जोशी, 2024

सर्वाधिकार सुरक्षित। लेखक की अनुमति के बिना इस प्रकाशन के किसी भी अंश का दोबारा प्रयोग/पुनरोत्पादन किसी भी रूप में नहीं किया जा सकता। इसमें व्यक्त विचार, अर्थनिर्धारण तथा निष्कर्ष पूर्णतः लेखक के हैं और किसी भी तरह, पूर्णरूपेण अथवा अंशतः प्रधानमंत्री संग्रहालय एवं पुस्तकालय के विचारों को नहीं दर्शाते। यह शोध अग्रेतर संवाद के लिए प्रस्तुत है। शोध से सम्बन्धित प्रत्येक प्रश्न का उत्तरदायी लेखक होगा। किसी भी सामाजिक और आपराधिक गतिविधि के लिए प्रधानमंत्री संग्रहालय एवं पुस्तकालय जिम्मेदार नहीं होगा।

प्रकाशक

प्रधानमंत्री संग्रहालय एवं पुस्तकालय

तीन मूर्ति भवन

नई दिल्ली–110011

ई.मेल : director.pmml@gov.in

ISBN : 978-93-84793-49-4

वेदोत्तर साहित्य में चिन्तन का विकास

– डॉ. ज्योतिष जोशी
वरिष्ठ अध्येता
प्रधानमंत्री संग्रहालय एवं पुस्तकालय

वैदिक वाङ्मय के पश्चात् भारतीय चिन्तन धारा को चारित्रिक विन्यास में दिखाने का संभवत: पहला प्रयत्न आदिकवि वाल्मीकि विरचित 'रामायण' है। इसके रचनाकाल को लेकर भी पर्याप्त मत-वैभिन्य है। अनेक विद्वानों के मत में इसका काल ईसापूर्व पाँच सौ से दो सौ वर्ष के मध्य का है। चिन्तामणि वैद की दृष्टि में इस समय प्राप्त रामायण शक सम्वत् के पूर्व पहली शताब्दी की है।[1] अपने प्रतिपाद्य में यह ग्रंथ भारतीय चिन्तन-सूत्रों को व्यावहारिक रूप प्रदान करता है और परमार्थिक सत्य के आदर्शों को राम की कथा के माध्यम से प्रस्तुत करता है। जीवन यहाँ परमार्थिकता में घटित होता है। मनुष्य के देवत्व-प्राप्ति का यह वृत्तांत उन साधनाओं का ज्वलंत साक्ष्य है जिसमें उसे जीवनमुक्ति मिल जाती है और सारी भौतिक एषणाएँ तिरोहित हो जाती हैं। मित्र, पत्नी, बन्धु, शत्रु, सेवक, देव और दानव के चरित्र जहाँ रामायण में अपनी स्वाभाविक गति में विकसित होते हैं, वहीं राजा, प्रजा, राजधर्म, परिवार, सम्बंध आदि के कर्त्तव्य निर्देशित हैं। राधावल्लभ त्रिपाठी कहते हैं- 'रामायण का अर्थ है राम का अयन। अयन को मार्ग कहते हैं। राम जिस मार्ग पर चले, उसे रामायण के कर्ता आदिकवि वाल्मीकि समाज को दिखाना चाहते हैं, इसलिए उन्होंने अपने काव्य को 'रामायण' कहा। राम का जो चरित्र वाल्मीकि ने अपनी रचना में प्रस्तुत किया, वह युगों-युगों से आदर्श बना हुआ है। राम का जो सच्चा स्वरूप वाल्मीकि ने चित्रित कर दिया, उसकी आज समाज को आवश्यकता है।'[2]

'रामायण' के बालकाण्ड के प्रथम सर्ग को देखें जिसमें वाल्मीकि नारद से प्रश्न करते हैं-

'तपः स्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदां वरम्।
नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुंगवम्।।
को न्वस्मिन्सांप्रतं लोके गुणवान्कश्च वीर्यवान्।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढ़व्रतः।।
चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः।
विद्वान्कः कः समर्थश्च कश्चैकप्रियदर्शनः।।
आत्मवान्को जितक्रोधो द्युतिमान्कोऽनसूयकः।
कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे।।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे।
महर्षे त्वं समर्थोऽसि ज्ञातुमेवंविधनं नरम्।।
श्रुत्वा चैत्रिकालज्ञो वाल्मीकेर्नारदो वचः।
श्रूयतामिति चामन्त्र्य प्रहृष्टो वाक्यमब्रवीत्।
बहवो दुर्लभाश्चैव ये त्वया कीर्तिता गुणाः।
मुने वक्ष्याम्यहं बुद्ध्वा तैर्युक्तः श्रूयतां नरः।।'[3]

अर्थात् तपस्वी वाल्मीकि ने सदा तपस्या तथा शास्त्र चिन्तन करनेवाले, सर्वप्रधान विद्वान और मुनियों में श्रेष्ठ नारद से पूछा-इस समय लोक में कौन गुणी है, कौन वीर है, कौन धर्म का ज्ञाता है, कौन कृतज्ञ है, कौन अपने वचनों और अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने वाला है, कौन विद्वान है, कौन शक्तिवान है, कौन सुन्दर है, कौन ऐसा है, जिसने अपनी आत्मा पर अधिकार कर लिया है, जिसने क्रोध को जीत लिया है, कौन द्युतिमान है और कौन ऐसा है, जो दूसरों के गुणों में दोष नहीं ढूंढ़ता? युद्ध में किसके क्रोध करने से देवगण भयभीत हो जाते हैं? मैं ऐसे पुरुष के बारे में सुनना चाहता हूँ, मुझे ऐसे पुरुष को जानने का बड़ा कुतूहल है। आप ऐसे पुरुष के बारे में अवश्य ज्ञान रखते हैं, क्योंकि आप समर्थ हैं। त्रिकालयज्ञ नारद मुनि वाल्मीकि की यह बात सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और वाल्मीकि के प्रश्नों के उत्तर में बोले- मुने, आपने जिन गुणों का उल्लेख किया है, वे

बड़े दुर्लभ हैं, उन गुणों से युक्त मनुष्य दुर्लभ ही होते हैं, इसलिए समझ-बूझकर मैं वैसा मनुष्य आपको बताता हूँ, सुनिए-

'इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान्धृतिमान्वशी।।
बुद्धिमान्नीतिमानवाग्मी श्रीमाञ्छत्रुनिबर्हणः।
विपुलांसो महाबाहुः कम्बुग्रीवो महाहनुः।।'[4]

वह पुरुष राम-नाम से जनता में प्रसिद्ध हैं और उनकी उत्पत्ति इक्ष्वाकु-वंश में हुई है। उनकी आत्मा उनके वश में है, वह महावीर हैं, द्युतिमान हैं, धीर हैं और इन्द्रियाँ उनके वश में हैं। वह बुद्धिमान, न्यायी, वक्ता, शोभायुक्त और शत्रुओं को परास्त करनेवाले हैं। उनके कंधे विशाल हैं, भुजाएँ बड़ी-बड़ी हैं, शंख के समान सुराहीदार उनकी गर्दन है और हनु बड़ा है।

वाल्मीकि के प्रश्नों का उत्तर बहुत विस्तृत है जो पहले सर्ग के सौ श्लोकों में निबद्ध है। इसमें नारद राम के गुणों का वर्णन करते हुए उनके यश, विभूति और उनकी अद्वितीयता का गुणगान करते हैं जिसके बाद ब्रह्मा की प्रेरणा से वे समग्र रामकथा को कलमबद्ध करते हैं। वाल्मीकि के प्रश्नों के उत्तर, तदन्तर उनसे नारद का संवाद और फिर रामकथा का कहा जाना दूसरे सर्ग के तैंतालीसवें श्लोक तक चलता है। तीसरे सर्ग से रामायण लिखे जाने की प्रक्रिया आरम्भ होती है। महर्षि वाल्मीकि के प्रश्न और नारद के उत्तर में हम जिस राम को देखते हैं, वे अद्वितीय, जितेन्द्रीय, पराक्रम से भरे हुए, यशस्वी और पूरे जगत् में अपने जैसा अकेले हैं। उनके ऐसा होने में उनकी साधना है, तप है, सत्य पर दृढ़ता है और स्वधर्म पर सतत दृढ़ रहकर कर्म करना है। यह भारतीय मनीषा की प्रातिनिधिकता है जिसकी परम्परा में रहते हुए राम ने जीवन-यज्ञ को सम्पूर्ण कर उसके अमृत-तत्व को ग्रहण किया और जगत् में स्वत्व के जागरण और सत्याग्रह का जीवन्त प्रमाण संभव किया।

'रामायण' के 'अरण्य कांड' में राम और शबरी की भेंट का प्रसंग तपश्चर्या और सतत साधना का सन्दर्भ बनकर आता है जहाँ शबरी और राम, दोनों एक-दूसरे को देखते हैं, पर कोई किसी से कुछ कहता नहीं। कुछ क्षण मौन रहने के बाद जब शबरी द्वारा राम का सत्कार पूर्ण हो जाता है, तो पूर्वाभासी राम धर्मचारिणी शबरी से पूछते हैं-

'कच्चित् ते निर्जिता विघ्नः कच्चित ते वर्धते तपः।
कच्चित् ते नियतः कोप आहारश्च तपोधने।।
कच्चित् ते नियमाः प्राप्ताः कच्चित ते मनसः सुखम्।
कच्चित् ते गुरुशुश्रूषा सफला चारुभाषिणी।।'[5]

अर्थात् हे तपोधने! तुम्हारी तपश्चर्या में निरन्तर जो विघ्न-बाधाएँ आती हैं, उन पर क्या तुमने पूर्ण नियंत्रण प्राप्त कर लिया है? तुम्हारी तपस्या किसी रुकावट के बिना आगे बढ़ रही है न? तुम्हारा क्रोध तुम्हारे अधीन है न? अन्न, पान, विचार-आचार, यम-नियम सब व्यवस्थित रूप से चल रहा है न? तुम्हारा मन प्रसन्न है न? गुरुजनों की जो सुश्रूषा तुमने की है, वह सब सफल है न? सुना है, तुम्हारी बोली बहुत मीठी होती है। बोलो, सब कुशल-मंगल है न?[6]

राम शबरी से यह जानते हुए पूछते हैं। उन्हें ज्ञात है कि शबरी ने अपनी तपश्चर्या निर्विघ्न पूरी की है। वह यम-नियम से परिपूर्ण है। आचार-विचार, पान सब कुछ उसका श्रेयष्कर है, इसलिए उसे वह सुफल मिला है कि राम, जो दुर्लभ हैं, स्वयं उसकी कुटिया पर आये हैं और वह उनका आतिथ्य कर रही है। वह कह पड़ती है-

'अद्य प्राप्ता तपः सिद्धिस्तव संदर्शनान्मया।
अद्य में सफलं जन्म गुरवश्च सुपूजिताः।।
अद्य में सफलं तप्तं स्वर्गश्चैव भविष्यति।
त्वयि देववरे राम पूजिते पुरुषर्षभ।।'[7]

आज मेरी तपस्या सफल हुई, आज मुझे अपनी साधना में सिद्धि प्राप्त हो गई। तुम्हारे दर्शन से मेरा जन्म सफल हो गया। अपने गुरुजनों की मैंने जो आजीवन सेवा-शुश्रूषा की है, उसका फल मुझे आज मिला है। तुम देवताओं में श्रेष्ठ देवता हो और तुम्हारी अर्चना, आराधना-पूजा और परिचर्या करने का मुझे जो अवसर प्राप्त हुआ है, वही मेरे लिए स्वर्ग है।[8]

यह शबरी की तपस्या का सुफल है और निरन्तर अनासक्त भाव से परमार्थिक सत्य की अनुभूति; जिससे उसे अमृतत्व प्राप्त होता है और वह उपकृत होकर अपने जीवन को धन्य मानती है।

वस्तुत: 'रामायण' में राम की धर्ममूर्ति प्रकट हुई है- 'रामो विग्रहवान धर्म:' धर्म का दूसरा नाम सत्य है जो पृथ्वी और आकाश का आधार है- 'सत्येनोत्तभिता भूमि: सत्येनोत्तभिता द्यौ:।' अथर्ववेद के इस आप्त कथन को राम के धर्म से द्योतित करनेवाले वाल्मीकि ने 'रामायण' को जीवन-प्रकाश के समतुल्य बनाकर उसे मनुष्य जीवन की परम कृतार्थता और उत्तमता का ग्रंथ बनाया जिसमें हम ऐसे-ऐसे बीजसूत्रों को देख सकते हैं जो हमें परम बनानेवाले हैं। अर्थ-परायणता वहाँ बहिष्कृत है, धर्म-परायणता ही मूल है; क्योंकि उसके बिना यह जीवन ही व्यर्थ है-

'नाहमर्थपरो देवि लोकमावस्तु मुत्सहे।
विद्धि मामृषिभिस्तुल्यं विमलं धर्ममास्थितम्।।'[9]

अर्थात् राम ने जो कैकेयी से कहा, हे देवि, मैं अर्थ-परायण बनकर संसार में जीवित नहीं रहना चाहता। मुझे तुम ऋषियों के समान निर्मल धर्म का अनुयायी समझो; उसका सतत् निर्वाह किया। कदाचित् राम की इस पूर्वोक्त प्रज्ञा को लक्ष्य करके ही चित्रकूट में भरत कहते हैं-

'यथा मृतस्तथा जीवन यथासति तथासति।

यस्यैष बुद्धिलाभः स्यात्प्ररितप्येत केन सः।'[10]

अर्थात् हे राम! लोक में ऐसा कौन है, जैसे तुम हो। दुःख से तुमको व्यथा नहीं पहुँची। कल्याण से तुम हर्षित न हुए। तुम्हारे लिए मृत्यु और जीवन, होना-न-होना, दोनों समान हैं। ऐसी बुद्धि जिसकी हो, उसको परिताप कहाँ से हो सकता है।

निसन्देह राम का पूरा व्यक्तित्व वेदवेद्य के रूप में प्रतिरूपित है जो जन-समाज और जन्म-मानस में निरंतर संचार करते हैं और आकाश में विचरनेवाले परमहंस सूर्य के वंशधर से लगते हैं। इस आकाशचारी हंस का वर्णन देखने लायक है-

'हः सः शुचिषद् वसुरंतरिक्षसद्
होता वेदिषद्तिथिर्दुरोणसत्
नृषद् वरसद् ऋतसद् व्योमसद्
अब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्।'

यह जगत का सारभूत सत्य कभी आकाश में सूर्य (हंस) के समान संचरित होता है, कभी अंतरिक्ष में जीवन का आधार (वसु) बनकर विचरता है, कभी यज्ञ की वेदी पर अग्निहोत्र (होता) बनकर विराजमान होता है और कभी कलश में जल (अतिथि) बनकर छलकता है। वही नर-जाति में है, वर (देवता) जाति में है, परम सत्य (ऋत) में है और अनंत आकाश (व्योम) में है। वह पानी (अप्) से, धरती (गो) से, चिरंतन सत्य (ऋत) से और प्रत्यक्ष सत्य (अद्रि) से प्रकट होता है।

डॉ. पाण्डुरंग राव लिखते हैं- 'यजुर्वेद और ऋग्वेद दोनों में परिकीर्तित यह महामन्त्र परमहंस सूर्य का स्मरणीय और मननीय वर्णन प्रस्तुत करता है। यहाँ पर यह बात प्रासंगिक लगती है कि दशरथनंदन राम सूर्यवंश के उद्धारक और तारक माने जाते हैं। सूर्य का उपस्थान करने वाला यह मंत्र परमहंस सूर्य को चार-चार की तीन सरणियों में प्रस्तुत करता है। हंस, वसु, होता और अतिथि; शुचि, अंतरिक्ष, वेदी और दुरोण; नर, वर, ऋत

और व्योम; तथा अंत में अप्, गो, ऋत और अद्रि का उल्लेख परम सत्य के अवतरण का इतना आलोकमय चित्र प्रस्तुत करता है कि इन चार तत्वों में दशरथ के चार पुत्रों की भावना प्रतिभासित दिखाई देती है।'[11]

'रामायण' भारतीय चिन्तन परम्परा का वह ग्रंथ है जिसमें वास्तविक जीवन का मार्ग सुनिश्चित किया गया है। वैदिक चिन्तन ने जो सत्यज्ञान दिया, आत्म-निवृत्ति के जो मार्ग दिखलाये और ऋत की व्यवस्था में आबद्ध समूचे जगत को जिस सत्यासत्य भेद को समझाया, रामायण ने उसे चारित्रिक व्यवहार में प्रस्तुत किया। यह इसलिए भी स्तुत्य है कि जीवन को प्रतिक्षण स्पंदित होकर जीते हुए, धर्म-परायणता स्वीकार कर, स्वधर्म पर अटल रहकर सभी प्राणियों को आत्मवत् मानकर अनासक्त भाव से जीना और जगत् के कल्याण में अपनी भूमिका का निर्वाह करना वस्तुतः भारतीय चिन्तन-सूत्रों का व्यावहारिक निर्वहण है- चाहें वे वेद हों या उपनिषद्, वे देवगति को जगत्गति से पृथक् नहीं मानते, इसलिए मायामय जगत् में भी अपने जन्म का सुफल इसी में है कि हम उसके मंगल में स्वयं को होम कर दें। अपने को उस विभु में विसर्जित कर दें, जो जगत् के कण-कण में व्याप्त है। सतत् कर्म और कामना से अनासक्ति, सर्वत्र व्याप्त शक्ति का अनुभव और अपने कर्त्तव्य-कर्म का श्रद्धापूर्वक पालन, सत्य की रक्षा के लिए संकल्प और तदनुसार आचरण रामायण के चिन्तन-सूत्र हैं जो राम और सभी अनुकरणीय चरित्रों के जीवन-व्यवहार में दिखते हैं।

निश्चय ही राम कर्म के साकार रूप हैं। वे अपनी दिव्यता को पहचानकर उसका पोषण करनेवाले दिव्य पुरुष हैं। उनको अपने ऊपर विश्वास है और वे धर्मपालक हैं-

'भवान् क्रियापरो लोके भवान् देवपरायणः।
आस्तिको धर्मशीलश्च व्यवसायी च राघवः।।'

वेदोत्तर साहित्य में 'रामायण' के बाद 'महाभारत' का स्थान आता है। हम जानते हैं कि यह दोनों महाकाव्य भारतीय साहित्य के उपजीव्य काव्य हैं और दोनों असंख्य ग्रंथों के प्रणयन का आधार बने हैं। 'महाभारत' में वेदव्यास ने धर्मशास्त्र, मोक्षशास्त्र और अर्थशास्त्र को सदा के लिए मानवजाति के अक्षयज्ञान और लोक में विन्यस्त जीवन को प्रतिरूपित कर दिया है-

'अर्थशास्त्रमिदं पुण्यं धर्मशास्त्रमिदं परम्।
मोक्षशास्त्र मिदं प्रोक्तं व्यासेनामित बुद्धिनां।।'[12]

'महाभारत' को उसकी विस्तृत ज्ञान मीमांसा के कारण 'भारतीय ज्ञान का संचित विश्वकोष' कहा जाता है। भारतीय चिन्तन-धारा, जो वैदिक वाङ्मय से प्रवाहित होती हुई 'रामायण' में राम के अयन यानी मार्ग में विन्यस्त हुई और वाल्मीकि ने उसे आदर्श-जीवन की गाथा के रूप में प्रस्तुत किया, उसे बहुत विस्तार से, और किंचित जगत् की नाना विषमताओं-विडम्बनाओं के साथ 'महाभारत' में अनेक कथाओं-उपकथाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया गया। देखने से यह भले युद्ध की मर्मान्तक गाथा हो, पर इसका आधार धर्म है और इसे वेदव्यास ने 'धर्म संहिता' के रूप में ही प्रस्तुत किया है। इसके अंत में धर्म की नित्यमहिमा का वर्णन इस तथ्य को पुष्ट करता है-

'न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्म त्यजेज्जीवितास्यापि हेतोः।
नित्यो धर्म सुखदुःखे त्व नित्ये
नित्यो जीवो धातुरस्य त्वनित्यः।'[13]

अर्थात् काम से, भय से, लोभ से अथवा प्राणों के लिए भी धर्म को छोड़ देना उचित नहीं। धर्म नित्य है, सुख और दुःख क्षणिक हैं। जीव नित्य है और शरीर (धातु) अनित्य है।

इसे महाभारत का सार बताते हुए और गायत्री मंत्र की संज्ञा देते हुए वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं- 'विश्व की प्रेरक शक्ति का नाम सविता है। ...वेदों में सृष्टि के अखंड विश्वव्यापी नियमों को ऋत कहा गया था। ऋत के अनुसार जीवन का व्यवहार मानव के लिए श्रेष्ठ मार्ग था। ऋत के विपरीत जो कर्म और विचार थे, उन्हें वरुण का पाश और बंधन समझा जाता था। वैदिक परिभाषाओं का आनेवाले युग में विकास हुआ। उस समय जो शब्द सबसे ऊपर तैर आया, वह धर्म था। धर्म शब्द भारतीय संस्कृति का सार्थक और समर्थ शब्द बन गया। महाभारतकार ने धर्म की एक नई व्याख्या रखी है, अर्थात् प्रजा और समाज को धारण करनेवाले नियमों का नाम धर्म है। जिस तत्व में धारण करने की शक्ति है, उसे ही धर्म कहते हैं-

'धारणाद्धर्म इत्याहुधर्मों धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारण संयुक्तं स धर्म इत्युदाहृतः।।

जितना जीवन का विस्तार है, उतना ही व्यापक धर्म का क्षेत्र है। धर्म की इस व्याख्या के अनुसार धर्म जीवन का सक्रिय तत्व है जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की निजी स्थिति और लोक की स्थिति संभव बन रही है। धर्म, अर्थ, काम की संज्ञा त्रिवर्ग है।'[14] इस त्रिवर्ग में भी धर्म ही मुख्य है एवं राज्य का मूल भी धर्म ही है-

'त्रिवर्गोऽगम् धर्ममूलं नरेन्द्र राज्यं
चेदं धर्ममूलं वदन्ति।'[15]

निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वैदिक चिन्तन, जिसका सतत् प्रवाह वेदान्त यानी उपनिषदों तक आया, जिस परात्पर सत्ता का दिग्दर्शन करता है और उसका अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन करता है, उसका जीवन की कर्मपरायणता के साथ समन्वय करता हुआ 'महाभारत' अस्ति-नास्ति के प्रश्नों के विवेचन से एक धर्मनिष्ठ, सत्यप्रतिज्ञ और स्वत्वशील मनुष्य को प्रस्तावित करता है। 'रामायण' में जहाँ हम वैदिक चिन्तन-सूत्रों के आलोक में राम

के समस्त जीवन को एक सत्यमार्गी के रूप में देखते हैं, वही महाभारत जीवन की व्यावहारिकता में कर्म की परायणता की सीख देता है और नियतिवाद या संन्यासवाद को वरेण्य नहीं मानता। धर्म कर्ममूल है, वह मनुष्य की पूरी जीवन-स्थिति को निर्धारित करता है। उसी के साथ रहते हुए मनुष्य को आत्म-बोध होता है और वह ईश्वर की प्रेरणा मानकर संसार में सात्विक धर्माचरण की ओर उन्मुख होता है। यहाँ सत्य आलोकित है, उसे छल-छद्म से ढका नहीं जा सकता। धर्म अडिग है, उसे अपने स्वार्थों के अनुसार चलाया नहीं जा सकता। यह महाभारतकार का धर्मशास्त्र है जो वैदिक चिन्तन का व्यावहारिक प्रत्याख्यान है। 'महाभारत' के निम्नोक्त कथनों को देखें-

'सत्येन हि स्थितो धर्मः उपपत्त्या तथा परे।
साध्वाचारतया केचित् तथैवौपयिकादपि।।'[16]

'सदाचारः स्मृतिवेदाः त्रिविधं धर्मलक्षणम्।
चतुर्थमर्थमित्याहुः कवयो धर्मलक्षणम्।।'[17]

'आचार लक्षणो धर्मः संतश्चारित्रलक्षणाः।
साधूनां च यथावृत्तमेतदाचारलक्षणम्।।'[18]

अर्थात् सत्य धर्म पर आश्रित है। उसका निश्चय कुछ लोग उपपत्ति यानी युक्ति के द्वारा करते हैं, कुछ सज्जनों के आचरण के द्वारा और कुछ लोग अवसर के अनुसार उसको ग्रहण करते हैं। सदाचार, स्मृति और वेद, धर्म के यह तीन आधार हैं। विद्वान लोग अर्थ अर्थात् प्रयोजन-सिद्धि को भी धर्म का चौथा आधार स्वीकार करते हैं। यह भलीभाँति समझ लेना चाहिये कि धर्म का मूल आधार आचरण है, वही सज्जनता यानी सद् मनुष्यता का मूल चरित्र है और सज्जनों या सत्पुरुषों का जीवन ही आचार का मूल है।

महाभारतकार ने धर्म-निर्णय को उसकी व्याप्ति में परखते हुए व्यवहार के स्तर पर उसकी इयत्ता को प्रतिष्ठित किया है। भारतीय सनातन चिन्तन जिस परमार्थिकता को जीवन की सिद्धि में देखता है, कदाचित् उसका मूल यह विचार-आचार की व्यवस्था ही है, जो

सिद्धांतरूप नहीं, कर्मरूप है। धर्म केवल भावन का विषय नहीं, जीवन का विषय है, इसलिए 'महाभारत' बार-बार इस बात पर बल देता है कि मनुष्य को अगर धर्म का पक्ष लेना है, जीवन को उसके अनुकूल बनाना है तो उसके विहित निर्देशों को आत्मसात् करना होगा। उसका विहित निर्देश है कि लोभ, मोह, बल-वीर्य की प्राप्ति की वासनाजनित आकांक्षा और दुष्ट आत्माओं यानी दुर्जनों की संगति अगर हुई तो धर्म नष्ट होगा और अधर्म धर्म को भ्रष्ट कर देगा-

'लोभाद वा बुद्धिमोहाद् वा बलवीर्यार्थमेव च।
संसर्गादथ पापानामधर्मरुचिता नृणाम।।'[19]

अट्ठारह पर्वों और एक लाख श्लोकों से सजा 'महाभारत' प्राचीन इतिहास, धर्म, अध्यात्म, दर्शन, नीति, राजशास्त्र, पुराणोपाख्यान, जीवन-चरित्, व्यवहार-चरित्र जैसे अनेक विषयों का ऐसा जीवन्त कोष है जिसमें सबके लिए कुछ न कुछ है। वेदव्यास इसमें मनुष्य को ही सर्वोपरि मानते हैं और उसे ही ज्ञान और विज्ञान का मध्यबिन्दु स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं-

'गुह्यं ब्रह्य तदिदं ब्रवीमि,
न हि मानुषात् श्रेष्ठतर हि किंचित्।'[20]

अर्थात् मैं तुमसे यह गूढ़ रहस्य बतलाता हूँ कि इस लोक में मनुष्य से बढ़कर कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है। जब वे मनुष्य को श्रेष्ठ कहते हैं, तो वे यह निर्देश कर रहे होते हैं कि यह लोक कर्म की भूमि है। उसका लक्षण कर्म है और कर्म से ही उसे उच्चतर होना है। जैसा कर्म होगा, वैसी ही सिद्धि होगी। वे सत्य को वेद का रहस्य कहते हैं, सत्य का रहस्य आत्मसंयम है और आत्म-संयम से ही मोक्ष मिलता है। यही सभी उपदेशों का सार है। सत्य क्या है, इसे बताते हुए महाभारतकार ने किंचित विस्तार से वेदविहित निर्देश को आत्मसात् कहते हुए कहा-

'सत्यमेकाक्षरं ब्रह्मं सत्यमेकाक्षरं तपं।
सत्यमेकाक्षरो यज्ञः सत्यमेकाक्षरं श्रुतम्।।
सत्यं वेदेषु जागर्ति फलं सत्ये परं स्मृतम्।
सत्याद् धर्मों दमश्चैव सर्वंसत्ये प्रतिष्ठितम्।।
सत्यं वेदास्तथाङ्गानि सत्यं विद्यास्तथा विधिः।
व्रतचर्या तथा सत्यमोङ्कारः सत्यंमेव च।।'[21]

अर्थात् सत्य ही एक मात्र अक्षय तप है, सत्य ही एक मात्र अविनाशी यज्ञ है। सत्य ही एक मात्र नाशरहित सनातन वेद है। वेदों में सत्य ही जागता है। सबसे श्रेष्ठ फल सत्य को ही माना गया है। धर्म और इंद्रिय संयम की सिद्धि भी सत्य से ही होती है। सत्य ही वेद और वेदांग हैं। सत्य ही विद्या तथा विधि है। सत्य ही व्रतचर्या तथा सत्य ही ओंकार है।

कहना न होगा कि वैदिक चिन्तन को आत्मसात् कर पहले 'रामायण' ने चारित्रिक विन्यास के माध्यम से राम के पुण्य-मार्ग की आदर्श-कथा कही और मनुष्य के अमृतत्व के सन्धान की सीख दी। तदन्तर 'महाभारत' ने व्यावहारिक भूमि पर मनुष्य के कल्याण और परम हो सकने की अनंत संभावनाओं के सूत्र दिये। इस विशाल आकर ग्रंथ ने भारत ही नहीं, विश्व के नाना ग्रंथों के प्रणयन में सहायता दी और मनुष्यता के चरम उत्कर्ष के मार्ग दिए। भारतीय संस्कृति के उन्नयन में 'महाभारत' की बड़ी भूमिका रही है। वैदिक चिन्तन को सर्वथा यथार्थवादी दृष्टि में विन्यस्त करके महाभारतकार ने इहलोक-परलोक दोनों स्तरों पर सिद्धि तथा मनुष्य के नैतिक विकास के मानदंडों पर जितना गहन चिन्तन किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। आदिपर्व में ठीक ही कहा गया है-

'धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वंचित।।'[22]

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्बंध में जो कुछ महाभारत में है, वही अन्यत्र भी मिल सकता है। पर जो महाभारत में नहीं है, वह अन्यत्र नहीं मिल सकता।

'महाभारत' का ही सर्वोत्तम पुष्प 'श्रीमद्भगवद् गीता' है, जो भीष्म पर्व का प्रसिद्ध भाग है। इसके अट्ठारह अध्याय हैं। माना जाता है कि ऐसा ग्रंथ भारतीय वाङ्मय में दूसरा नहीं है। यह संवाद पर आधारित ग्रंथ है जिसमें वेदान्त चिन्तन की ब्रह्मविद्या का अपूर्व वर्णन है। इसमें केवल नीति नहीं है वरन् व्यवहारसिद्ध विद्या की ऐसी शिक्षा है जो मनुष्य को विभु की सत्ता दे देती है। कह सकते हैं कि वेदों और उपनिषदों के चिन्तन से सम्बन्धित अध्यात्म को नाना स्थितियों और पक्षों में समझाते हुए कृष्ण ने अर्जुन को जो उपदेश दिये हैं, वे अनुपम हैं। यहाँ प्रतिपादित अध्यात्म केवल संन्यास या वनप्रस्थ से सम्बंध नहीं रखता, वरन् उसका गृहस्थ जीवन से गहरा नाता है। गीता के अध्यात्म से आशय मनुष्य के 'आत्म' की उन चिन्ताओं से है जिनसे वह संकुचित होता जाता है। 'गीता' आत्मा के अमृत-स्वरूप की व्याख्या करती है, जीवन के आदि-अंत की समस्या पर विचार करती है, शरीर और कर्म के नियमों का निष्पादन करती है तथा आत्मा से ईश्वर के सम्बंध पर विचार करती है। कर्म और मुक्ति का ऐसा कोई भाष्य अब तक सुलभ नहीं है, जो मनुष्य को केवल उपदेश न देकर उसके कर्म-फल को व्यवहार में समझा सके।

'गीता' पर अपनी सम्मति देते हुए वासुदेवशरण अग्रवाल कहते हैं- '....अतएव इसमें संदेह नहीं कि गीता मानव के जीवन की मौलिक समस्याओं की व्याख्या करने वाला ऐसा परिपूर्ण काव्य है, जिसकी तुलना अन्य किसी दर्शन, धर्म, अध्यात्म, या नीति के ग्रंथ से करना संभव नहीं। भारतवर्ष में अध्यात्म की परम्परा बहुत ऊँच्चे धरातल पर सहस्त्रों वर्षों तक फूली-फली है। वेद और उपनिषद् जैसे महान ग्रंथ उसी के फल हैं।'[23]

'गीता रहस्य' की भूमिका में बाल गंगाधर तिलक कहते हैं- 'गीता के बारे में जो कहा जाता है कि- 'गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः' अर्थात् अकेली गीता का

अध्ययन कर लेना बस है, शेष शास्त्रों के योयो विस्तार से क्या करना है, यह वह झूठ नहीं है, अतएव जिन लोगों को हिन्दू धर्म और नीतिशास्त्र से परिचय कर लेना हो, उन लोगों से हम सविनय और आग्रहपूर्वक कहते हैं कि सबसे पहले आप इस अपूर्व ग्रंथ का अध्ययन कीजिये।'[24]

निसन्देह 'भगवद्गीता' सम्पूर्ण मानव-समाज के लिए प्रासंगिक और कल्याणकारी है। इसमें सृष्टि के सभी आध्यात्मिक पक्षों का समावेश है तथा विवेचन भी। इसमें हम सहजता से वैदिक चिन्तन की निष्पत्तियों का विवेचनात्मक फलितार्थ देख सकते हैं। वेद, वेदांग सहित उपनिषदों का सार इसमें समाहित है, इसीलिए भारतीय चिन्तन-धारा में इसे 'प्रस्थानत्रय' मार्ग का एक भाग माना जाता है। ज्ञातव्य है कि एक भाग (प्रथम भाग) 'वैदिक प्रस्थान' है, तो दूसरा प्रस्थान 'ब्रह्मसूत्र' है जिसका निष्पादन उपनिषद् करते हैं और तीसरा प्रस्थान स्वयं 'गीता' है जिसे 'स्मार्त प्रस्थान' भी कहते हैं। इन्हें अलगाकर समझें तो ब्रह्मसूत्र में मंत्र हैं, उपनिषदों में सूत्र हैं तो गीता में श्लोक। वास्तव तत्व के विवेचन और वर्णन के कारण गीता समग्र मानवजाति के लिए कल्याणकारी है। इसमें मनुष्य के कर्म, धर्म, भवितव्य और फलाफल के साथ उसके उच्चतर हो सकने की समग्र संभावनाओं का विश्लेषण है। माना जाता है कि मनुष्य जीवन को सम्पूर्ण बनाने के लिए जो भी तत्व अपरिहार्य हैं, वह सब गीता में हैं। कहते हैं कि-

'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा: गोपालनन्दन:।
पार्थो वत्स: सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।।'

यानी कृष्ण ने उस महान ज्ञानतत्वरूपी दुग्ध को उपनिषद् रूपी गायों से दोहन करके निकाला है। यह अकारण नहीं है कि महात्मा गाँधी ने गीता को माता कहा था और उसकी गोद में सभी मानवीय समस्याओं के समाधान पाने की बात लिखी थी। उन्हीं के शब्दों में-

'मैं तो अपनी सारी कठिनाइयों में गीता-माता के पास दौड़ा आता हूँ और अब तक आश्वासन पाता आया हूँ। दूसरों को भी, जो उसमें से आश्वासन पाने के इच्छुक हैं, शायद, जिस रीति से मैं उसे रोज-रोज समझता जाता हूँ, वह रीति जानकर, कुछ अधिक मदद मिले। उस रीति को जानकर उनको कुछ नया प्रकाश पाना भी असंभव नहीं है।'[25]

'क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योग' नामक 'गीता' के तेरहवें अध्याय में कृष्ण ने विस्तार से उस ज्ञान की चर्चा की है, जो सत्यासत्य का भेद बताकर हमें अनासक्त भाव से परमार्थिक बनाता है। यह वैदिक चिन्तन की व्यावहारिक व्याख्या है; क्योंकि यहाँ लोक में रहते हुए 'लोकोत्तर' जीवन की सिद्धि का भी प्रयोजन है। वे कहते हैं-

'अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः।।
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।।
असक्तिरनभिश्वंगः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।।
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेश सेवित्वमरतिर्जनसंसदि।।
अध्यात्मज्ञान नित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थ दर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम्ज्ञानं यदतोऽन्यथा।।'[26]

अर्थात् श्रेष्ठता के अभिमान का अभाव, दम्भाचरण का अभाव, किसी भी प्राणी को किसी भी तरह से न सताना, क्षमा भाव रखना, मन-वाणी आदि की सरलता, श्रद्धा-भक्ति सहित गुरु की सेवा, बाहर-भीतर की शुद्धि, अन्तःकरण की स्थिरता और मन-इन्द्रियों सहित शरीर का निग्रह, इस लोक और परलोक की आसक्तियों का अभाव और अहंकार का न होना, जन्म-मृत्यु, वृद्धत्व और रोग आदि में दुःख और दोष आदि का निरंतर भान होना,

पुत्र, स्त्री, घर, धन आदि में आसक्ति का अभाव, ममता का न होना तथा प्रिय और अप्रिय की प्राप्ति में चित्त का सदा ही सम रहना, मुझ परमेश्वर में अनन्य योग के द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति तथा एकांत तथा शुद्ध देश में रहने का स्वभाव और विषयासक्त मनुष्यों के समुदाय में प्रेम का न होना, अध्यात्म में नित्य स्थिति और तत्वज्ञान के अर्थरूप परमात्मा को ही देखना ज्ञान है और जो इसके विपरीत है, वह अज्ञान है।

यह ज्ञान भारतीय चिन्तन परम्परा का मूल है जिसमें सर्वात्म को आत्मभूत में देखने की प्रतिज्ञा है। यही 'स्व' का विसर्जन है और जीवन में होते हुए प्रतिक्षण नश्वरता की अनुभूति का होना है। सर्वव्यापी शक्ति से तादात्म्य की यही अवस्था है जिसमें समस्त सांसारिकताओं का त्याग होना अनिर्वाय है। 'गीता' अपने प्रतिपादन में वैदिक चिन्तन को सम्मिलित कर उसे व्यावहारिक स्वरूप देती है और परमार्थिक जीवन का मंत्र सौंपती है। इस रूप में वेदोत्तरसाहित्य में 'गीता' का महत्व निर्विवाद है जो भारतीय चिन्तन-धारा को विकास के उत्कर्ष पर ले जाती है।

वेदोत्तर साहित्य-चिन्तन में पुराण साहित्य का विशिष्ट महत्व है। किंचित विस्मय और संदेहों के कारण ही पुराणों का अध्ययन वैदिक वाङ्मय के बाहर किया जाता है; किन्तु उनकी जगह भी वैदिक वाङ्मय में ही ठहरती है। गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी का कथन है- 'यह सुप्रसिद्ध है कि पुराण आर्य-जाति के सर्वस्व हैं। इन्हें आर्य जाति के सुविस्तृत प्रासाद के आधार-स्तंभ, प्राचीन इतिहास, मन्दिर के सुवर्ण-कलश, विविध विज्ञान-समुद्र में तैरनेवाले जहाज के प्रकाश-स्तंभ, सनातन धर्म-रूप शामियाने की डोरियाँ, मानव-समाज की संस्कृति का पथ-प्रदर्शन करनेवाले दिव्य प्रकाश तथा आर्य-जाति की अनादि काल से संचित विद्याओं की सुदृढ़ मंजूषाएँ कहा जाय, तो कुछ भी अत्युक्ति न होगी।'[27]

पुराणों के अति प्राचीन होने का संदर्भ स्वयं अथर्ववेद में मिलता है जिसमें दो स्थानों पर पुराण का नाम आया है-

'ऋचः सामानि छन्दासि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिवि श्रिताः।'

अर्थात् सबके नाश के अनन्तर भी शिष्ट रहनेवाले अर्थात् शेष रह जानेवाले परमात्मा का नाम 'उच्छिष्ट' है। उसी से ऋक्, साम, छन्द और पुराण यजुर्वेद के साथ उत्पन्न हुए हैं। वैज्ञानिक मतानुसार या उसकी प्रक्रिया के अन्तर्गत जो पदार्थ अपने केन्द्र से विच्छिन्न होकर किसी दूसरे में प्रवेश कर जाये उसे ऋग्वेद की परिभाषा में 'प्रवर्ग्य' तथा अथर्ववेद में 'उच्छिष्ट' कहा जाता है। वेदों में अन्यत्र भी इतिहास और पुराण दोनों का समवेत नाम मिलता है-

'तमृचश्च सामानि च यंजूषि च ब्रह्म चानुव्यचलन। ऋचां च वै ससाम्नां च यजुषां च ब्रह्मणश्च प्रियं धामं धाम भवति, य एवं वेद, स बृहतीं दिशमनुव्यचलत्। तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्। इतिहासस्य च स वै पुराणस्य च गाथानां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद।'[28]

इसकी व्याख्या करते हुए गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी लिखते हैं- 'यह व्रात्यकांड का मंत्र है। व्रात्य का विवरण इसके पूर्व इस प्रकार किया गया है कि वह प्रजापति का भी प्रेरक है। उसका नाम यहाँ नीललोहित भी कहा गया है और ईशान, महादेव आदि नाम भी उसके बताये गये हैं। इससे सिद्ध होता है कि 'व्रात्य पद से यहाँ महादेव का ग्रहण है। आरंभ में सबसे पूर्व व्रात्य की स्थिति बताई गई है और पुराणों में भी नीललोहित, ईशान आदि नाम महादेव के ही उपलब्ध होते हैं। अस्तु; उस व्रात्य का भिन्न-भिन्न दिशाओं में चलना और देवता, पितृ आदि का उसके साथ चलना यहाँ विस्तार में वर्णित हुआ है। उसी प्रसंग में पहली कण्डिका में चारों वेदों का उसके साथ चलना बताया गया और आगे की कण्डिका में इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी (गाथा-विशेष) का उसके साथ चलना निर्दिष्ट हुआ है। व्रात्य का विशेष विवरण करना यहाँ अनावश्यक है। यहाँ इतना ही कहना है कि चारों वेदों के समान इतिहास-पुराण का श्रुति में निर्देश होने के कारण पुराणों का

पंचम वेद होना श्रुति का भी अभिमत है, यह सिद्ध हो गया। उपनिषदों में तो छान्दोग्य, बृहदारण्यक आदि में इतिहास-पुराणों के नाम वेदों के साथ स्पष्ट रूप से आए हैं और वहाँ पंचम पद भी है, जो कि पुराणों का पंचम वेद होना स्पष्ट सिद्ध करता है।'[29]

इससे यह स्पष्ट होता है कि पुराण साहित्य, वेदों की तरह ही प्राचीन हैं। इसे इस तरह समझा जा सकता है कि वेद-यज्ञवेद हैं, तो पुराण पुराणवेद हैं। यह विद्या यानी पुराण-विद्या वैदिक चिन्तन-धारा का सतत् विकास है; क्योंकि इसमें उसके सूत्रों का किंचित विस्तार से व्याख्या और विश्लेषण है। इस व्याख्या और विश्लेषण में ही विभिन्न कथाओं की संगतियाँ हैं जिनसे पुराण अपने प्रतिपाद्य को स्पष्ट निर्देश बनाते हैं। 'गीता' स्पष्ट रूप से कहती है-

'सः यज्ञाः प्रजाः सृष्टवा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।।'

-3/10

अर्थात् यज्ञ के साथ ही प्रजापति ने प्रजा को बनाया और यज्ञ के द्वारा ही आगे की सृष्टि को बढ़ाने का उन्हें आदेश दिया। इसका यह अर्थ निकलता है कि सब पदार्थों के गुण-धर्म बतानेवाले और उनके आधार पर यज्ञक्रिया के प्रस्तोता, यह दोनों ही- यज्ञवेद और पुराणवेद हैं और इसीलिए प्राचीन हैं तथा समान भाव से ग्रहण करने योग्य हैं। इनके काल पर हमें कुछ नहीं कहना है; क्योंकि इस पर विभिन्न किस्म के मतान्तर हैं जो हर तर्क से इनकी उपस्थिति के काल को खंडित करने का प्रयत्न करते हैं। हमें चिन्तन के विकास में ही पुराणों को देखने का प्रयत्न करना चाहिए और वही हमारा लक्ष्य भी है।

पुराणों को लेकर यह समझ बनती है कि प्रकृति जिस नियम से अपना कार्य सम्पादित करती है, जिस क्रम से सृष्टि का आरंभ होता है और सृष्टि जिस प्रक्रिया में काम करती है, उसे पुराण बताते हैं। यह वह चिन्तन है जिसमें प्रकृति के गुण-धर्म और उसके नियमन का ज्ञान है। इस रूप में पुराण वेदविहित यज्ञ-विद्या के समानांतर और उसके द्वारा वर्णित

परम सत्ता की सूत्रात्मक व्यवस्था को प्रकृति की समस्त प्रक्रिया में देखते हैं और विस्तार से उन सभी विभूतियों के आदि-अंत, विकास-अवसान सहित मनुष्य के उनसे सम्बंधों का परीक्षण करते हैं। अपने चिन्तन में पुराण मनुष्य के इहलोक और परलोक की समस्त प्रक्रियाओं का परीक्षण करते हैं और उसे आध्यात्मिक शिखरत्व की ओर ले जाते हैं। पुराण सर्वविद्या संग्रह कहलाते हैं इसलिए कि वे मनुष्य का सर्वांग विकास और उत्कर्ष का स्वप्न देखते हैं। विदित है कि विद्याओं के चार भेद हैं- 'आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दंड। इसमें पहला तर्कशास्त्र का पर्याय है, त्रयी वेदों की विद्या को कहते हैं। वार्त्ता विद्या को सम्पत्तिशास्त्र या अर्थविद्या (अर्थशास्त्र) कहा जाता है, तो दंड को शासन विधान। पुराण इन समस्त विद्याओं का संग्रह हैं जिसमें मनुष्य के भौतिक और आध्यात्मिक विकास के मंत्र छुपे हुए हैं। पुराणों में अधिकतर का कथा-विकास संवादों से होता है। इनमें नाना कथाओं-उपकथाओं के माध्यम से प्रतिपाद्य को चिन्तनभूमि दी जाती है। इनमें शंकाओं के निवारण की विधियाँ पाठकों को जिज्ञासु बनाकर उन्हें सहजता से चिन्तन-दीक्षा देती हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि वेदोत्तर साहित्य में 'रामायण' और 'महाभारत' के समानांतर पुराणों ने जन-मानस में अपनी प्रतिष्ठा एक व्यवस्थित धर्मशास्त्र के रूप में बनाई है पर इसका यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि चिन्तन-धारा के उत्कर्ष में पुराण कहीं से भी शिथिल हुए हों या धार्मिकता उनका कोई आत्यंतिक प्रयोजन है।

पुराणों के मुख्य प्रतिपादित विषयों पर आने से पूर्व यह समझ लेना प्रीतिकर ही होगा कि पुराण अट्ठारह ही क्यों हैं। वेदव्यास ने पुराण इतने ही क्यों रचे? इस पर विचार करने का महत्वपूर्ण सूत्र यह है कि सनातन परम्परा में अट्ठारह का बड़ा महत्व है। इस संख्या पर ऋषियों का विशेष बल दिखाई देता है। चार वेद, छह वेदांग, पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र-यह अट्ठारह विद्याएँ मानी गई हैं। इस गणना में अट्ठारह की संख्या ही ली गई है। 'महाभारत' के अट्ठारह पर्व; और 'गीता' में अट्ठारह ही अध्याय हैं। इस अट्ठारह की संख्या का रहस्य भारतीय चिन्तन में ही खुलता है। मनुष्य की देह में कार्यकारक तत्व की संख्या अट्ठारह है- पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ- कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और

नासिका, पाँच कर्मेन्द्रियाँ-वाणी, हाथ, पैर और दो मल-विसर्जन की इन्द्रियाँ-और इन सबको नियंत्रित करने वाला मन, पाँच प्राण-प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान (तथा बुद्धि और अहंकार); यह सब मिलकर अट्ठारह होते हैं जिसके द्वारा हमारी आत्मा अच्छे या बुरे कर्मों में प्रवृत्त होती है। इन्हें ही हम पुण्य और पाप कहते हैं। मनुष्य द्वारा किये गये पाप कर्मों के निवारण के लिए भी अट्ठारह तरह के ही उपाय भी हैं; कहना न होगा कि भारतीय चिन्तन में अट्ठारह की यह संख्या इसीलिए इतनी महत्वपूर्ण है; कदाचित पुराणों का अट्ठारह की संख्या भारतीय चिन्तन में भी अनेक प्रकार्यों को समाहित करती है, जिस पर न जाकर हम केवल 'मुंडकोपनिषद्' के कथन से इस प्रसंग को विराम देते हैं- 'अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म'। अर्थात् यज्ञ मनुष्य का अष्टादस यानी अट्ठारहवाँ कर्म है। यज्ञ में भी सोलह ऋत्विक सहित यजमान और यजमान-पत्नी को लेकर अट्ठारह ही होते हैं। जीवन में मनुष्य के शेष सत्रह कर्मों पर बात करने का यहाँ अवकाश नहीं है; इसलिए हम अपने प्रतिपाद्य पर ही केन्द्रित होंगे।

'देवी भागवत' में सभी अट्ठारह पुराणों के नाम निम्नोक्त दिए गये हैं-

'मद्वयं भद्वयं चैवव्रत्रयं वचतुष्टयम्।
अनाप कूस्कलिङ्गानि पुराणानि विदुर्बुधाः।।'

अर्थात् मकरादि दो नाम (मत्स्य, मार्कण्डेय), भकरादि दो नाम (भागवत, भविष्योत्तर), ब्र आदि तीन नाम- (ब्रह्म, ब्रह्म वैवर्त्त, ब्रह्माण्ड), वकारादि चार नाम (विष्णु, वायु, वामन, वाराह), और अ (अग्नि), ना (नारद), प (पद्म), कू (कूर्म), स्क (स्कंद), लि (लिंग) तथा ग (गरुड़)। इसी तरह नारद, विष्णु, भागवत, पद्म तथा मत्स्य पुराणों में क्रम से विवरण उपलब्ध है-

ब्रह्म पुराण, पद्म पुराण, विष्णु पुराण, वायु पुराण या (शिव पुराण), भागवत पुराण, नारद पुराण, मार्कण्डेय पुराण, अग्नि पुराण, भविष्य पुराण, ब्रह्मवैवर्त्त पुराण, लिंग पुराण, वाराह

पुराण, स्कंद पुराण, वामन पुराण, कूर्म पुराण, मत्स्य पुराण, गरुड़ पुराण तथा ब्रह्माण्ड पुराण।

पुराणों का मुख्य प्रतिपाद्य सृष्टि है। सृष्टि कैसे रची गई; उसका नियमन किस तरह हुआ, किन-किन देवताओं की सृष्टि के पालन, रचना और संहार में भूमिका है; यह सभी विषय पुराणों में आते हैं जिन्हें कथाओं-उपकथाओं के माध्यम से विस्तार के साथ बताया जाता है। निसन्देह सृष्टि की रचना और उसके नियन्ता का वही स्वरूप विस्तार से पुराणों में भिन्न-भिन्न तरह से वर्णित है जिस का ऋग्वेद के 'नासदीय' तथा 'पुरुष सूक्त' में उल्लेख है। लेकिन पुराणों का प्रतिपाद्य इतना-ही भर नहीं है। पुराण स्वयं अपने प्रतिपाद्य क्षेत्र का निर्देश इस तरह करते हैं-

'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्।।'

अर्थात् सृष्टि, प्रति सृष्टि, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित पुराणों के मुख्य प्रतिपादन-क्षेत्र हैं। यहाँ सृष्टि के वर्णन में जगत का प्रलय में नष्ट हो जाना भी वर्णित है जिसे 'प्रतिसर्ग' यानी दिखाई देनेवाले का लोप हो जाना कहा गया है। 'वंश' से तात्पर्य संसार के उपादान कारकों की क्रमिक प्रस्तुति और आख्यान जैसे- ऋषियों, राजाओं आदि की वंश-परम्परा का वर्णन, 'वंशानुचरित' से आशय वंश में जो पदार्थ आते हैं, उनके विस्तार और गुण-धर्म की व्याख्या, तदन्तर उसका वर्णन तथा 'मन्वन्तर' से तात्पर्य सृष्टि के आरंभ से उनके क्षय यानी प्रलय तक व्यतीत हुए काल की सम्यक गणना। कुछ अन्य पुराणों में इन पाँच के अतिरिक्त प्रतिपाद्य अन्य पाँच विषयों को शामिल कर इनकी संख्या दस बताई गई है-

मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति, आश्रय, सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण और ऊति।

'भागवत' में शुकदेव परीक्षित से कहते हैं कि हे परीक्षित! मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय-सहित भागवतपुराण में सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण और ऊति, दस विषयों का वर्णन है। इनमें जो दसवाँ आश्रय-तत्व है, उसी का निश्चय करने के लिए कहीं श्रुति से, कहीं तात्पर्य से और कहीं दोनों के अनुकूल अनुभव से महात्माओं ने अन्य नौ विषयों का बड़ी सुगम रीति से वर्णन किया है। ईश्वर की प्रेरणा से गुणों में क्षोभ होकर रूपांतर होने से जो आकाशादि पंचभूत, शब्दादि तन्मात्राएँ, इन्द्रियाँ, अहंकार और महत् तत्व की उत्पत्ति होती है, उसे 'सर्ग' कहते हैं। उस विराट पुरुष से उत्पन्न ब्रह्म के द्वारा जो चराचर सृष्टियों का निर्माण होता है, उसका नाम है- 'विसर्ग'। प्रतिपद नाश की ओर बढ़ने वाली सृष्टि को एक मर्यादा में स्थिर रखने से भगवान विष्णु की जो श्रेष्ठता सिद्ध होती है, उसका नाम 'स्थान' है। अपने द्वारा सुरक्षित सृष्टि में भक्तों के ऊपर जो उनकी कृपा होती है, वह 'पोषण' है। मन्वन्तरों के अधिपति जो भगवद्भक्ति और प्रजापालन रूप शुद्ध धर्म का अनुष्ठान करते हैं, उसे 'मन्वन्तर' कहते हैं। भगवान के विभिन्न अवतारों और उनके प्रेमी भक्तों की विविध आख्यानों से युक्त गाथाएँ 'ईशकथा' हैं। जब भगवान योगनिद्रा स्वीकार कर शयन करते हैं, तब इस जीव का अपनी उपाधियों के साथ उनमें लीन हो जाना 'निरोध' है। अज्ञान कल्पित कर्त्तव्य, भोक्तृत्व आदि अनात्मभाव का परित्याग करके अपने वास्तविक स्वरूप परमात्मा में स्थित होना ही 'मुक्ति' है। 'इस चराचर जगत की उत्पत्ति और प्रलय, जिस तत्व से प्रकाशित होते हैं, वह परम् ब्रह्म ही 'आश्रय' है। शास्त्रों में उसी को परमात्मा कहा गया है। जो नेत्र आदि इन्द्रियों का अभिमानी द्रष्टा जीव है, वही इन्द्रियों के अधिष्ठात्री-देवता सूर्य आदि के रूप में भी है और जो नेत्र गोलक आदि से युक्त दृश्य देह है, वही उन दोनों को अलग-अलग करता है। इन तीनों में यदि एक का भी अभाव हो जाय तो दूसरे दो की उपलब्धि नहीं हो सकती। अत: जो इन तीनों को जानता है, वह परमात्मा ही, सबका अधिष्ठान 'आश्रय-तत्व है। अपना आश्रय वह स्वयं ही है, दूसरा कोई नहीं।'[30]

जीवन, जगत, ब्रह्माण्ड के रहस्य, पाप-पुण्य, आत्मा-परमात्मा के सम्बंध, मनुष्य के सत्कर्म, उसके जीवन का लक्ष्य, उसका स्वधर्म, सहज मानवीय गुणों का विकास, जीवन की परमकृतार्थता, ईश्वर की जगत्व्याप्ति और मनुष्य का उसका अनुभव करना, ज्ञान-भक्ति सहित साधुता का अर्जन, परस्पर प्रेमजनित जीवन के साथ सबके प्रति उपकार का भाव, सभी भूतों को आत्मवत् समझने की भावना का विकास और ऐसे मनुष्य के रूप में जीने का संकल्प; जिसमें अनासक्त भाव हो और समूचा जगत् उसके कुटुम्ब का पर्याय बन जाय। यह कुछ विशेष और बोधगम्य विषय हैं जिनका उल्लेख हमने किया है, पर पुराण अथाह ज्ञानराशि हैं और अनेक स्तरों पर रहस्यपूर्ण तथा अगम्य भी हैं जिन पर संक्षेप में संकेत करना भी सहज नहीं है। स्पष्टता से कहें तो पुराण वैदिक चिन्तन के सूत्रों का तार्किक विकास हैं और एक स्तर पर मनुष्य की देवोपमता का आदर्श निर्देश भी। इनका आत्यंतिक लक्ष्य मनुष्य जीवन को पवित्र करना और उसे आचरणजनित कर्म के माध्यम से जीवनमुक्त करना है ताकि वह जीते-जी अमरता को प्राप्त कर सके और मृत्यु उसके लिए जीवन की एक सामान्य घटना से अधिक महत्व न रख सके। यह मनुष्य का अमृत-तत्व प्राप्त करना है और यह तब संभव है जब मनुष्य का जीवन प्रतिक्षण प्रार्थना में विन्यस्त हो जाय। वह ईश्वर के अचिन्त्य रूप का ध्यान कर शान्ति प्राप्त कर सके। 'वायुपुराण' कहता है-

'तस्यात्मनोऽप्यात्मभावतया पुष्पस्य गन्धवत्।
रसवद्धा स्थितं रूपमवेहि परमं हि तम्।।
अनुभूतं तदस्माभिर्जातेप्राकृतिके लये।
अक्षरात्परतस्तस्मात् यत्परं केवलो रसः।।
न च तत्र वयं शक्ताः शब्दातीते तदात्मकाः।'[31]

वह आत्मवत् भावरूप है और पुष्पों की सुगंध की तरह है। अक्षर से पर अव्यय है और उससे भी पर और है, किन्तु वह परात्पर केवल निर्विशेष रसरूप है। उसका पता हम भी नहीं दे सकते। वह मन और वाणी से सर्वथा दूर है। उसका केवल अचिन्त्य रूप ध्यान

कर शान्ति प्राप्त की जा सकती है। उसे ही चित्त में स्थित कर जब मनुष्य सर्वात्मभूत हो जाता है, तो स्व-पर के विवेक से मुक्त होकर समस्त जगत् को ईश्वर की दिव्य विभूतियों का प्रकट रूप मानकर उसमें स्वयं को समाहित कर देता है। परम मानुष-भाव अचिन्त्य सत्ता की सतत् अनुभूति के बिना संभव है भी नहीं।

'भागवत पुराण' में निर्दिष्ट 'निरोध' 'मुक्ति' और 'आश्रय' ही वह मूल तत्व हैं जिसका निर्देश पुराणों में परमार्थिक सत्य की व्यावहारिक रूप से प्राप्ति के लिए किया गया है। 'भागवत' में इन तीन तत्वों के अतिरिक्त जिन अन्य सात तत्वों का विवेचन है; प्राय: वही तत्व यानी दस तत्वों का प्रतिपादन सभी पुराणों में, थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ है। इसी में उनके चिन्तन का आशय भी है। प्राय: सभी पुराणों में जो वंशानुक्रम गाथाएँ हैं, उनका स्पष्ट ध्येय यह बताना है कि कामनाओं के उपभोग से काम शमित नहीं होता, बल्कि वह तो उसी तरह बढ़ जाता है जैसे आहुति डालने पर अग्नि बढ़ जाती है-

'न जातु काम: कामानुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।।'

पुराणों का महत्व इस बात में भी है कि उसने वैदिक चिन्तन को ज्ञान मार्ग से ग्रहण करते हुए उसे भक्ति का स्वरूप देने का प्रयत्न किया। वैदिक चिन्तन के 'ब्रह्म-स्वरूप' को और औपनिषदिक 'परमात्मा' को पुराणों ने उनके अरूप और निराकार की सीमा से बाहर निकाला। उन्हें विभिन्न अवतारों में विन्यस्त किया और ज्ञान के साथ-साथ श्रद्धापूरित भक्ति का प्रसार किया। इसे अवतारवाद और सगुण ईश्वर की अवधारणा के रूप में भी देखा जाता है। वैदिक चिन्तन को पौराणिक प्रतिपादनों ने जो व्यावहारिक धरातल दिया, उससे उसके विकास का एक बड़ा आधार निर्मित हुआ। वैदिक चिन्तन में सृष्टि की रचना और उसके मूल को जिस 'क्षर पुरुष' के रूप में जाना जाता है, वही पुराणों में 'विराट पुरुष' हो जाता है। अन्तर बस इतना है कि वह वहाँ अजन्मा है और यहाँ तीन भिन्न अवयवों में प्रकट होता है-

'तद् ब्रह्म परमं नित्यमजमक्षयमव्ययम्।
एक स्वरूपं तु सदा हेयाभावाच्च निर्मलम्।।'[32]

अर्थात् वही ब्रह्म, जो अजन्मा, अप्रकट और किसी से उत्पन्न नहीं होता, अव्यय, अक्षर और क्षर रूपों से प्रकट होता है और सदा एक रूप रहता है। उसमें कुछ भी जोड़ा नहीं जा सकता, न मिलाया जा सकता है, इसीलिए वह निर्मल है। कहा गया है–

'जगृहे पौरुषं रूपं भगवान्महदादिभिः।
सम्भूतं षोडशकलमादौ लोक सिसृक्षया।।
यस्याम्भसि शयानस्य योगनिद्रां वितन्वतः।
नाभिहृदाम्बुजादासीत् ब्रह्मा विश्वसृजांपतिः।।
यस्वावयवसंस्थानैः कल्पितो लोकविस्तरः।
तद्वैं भगवतो रूपं विशुद्धं सत्त्वमूर्त्तिजम्।।
पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा सहस्रपादोरूभुजाननाद्भुतम्।
सहस्त्रमूर्द्धश्रवणाक्षिनासिकं सहस्त्रमौल्यम्बर कुण्डलोल्लसत्।।'[33]

अर्थात् आदितत्व-रूप परात्पर भगवान ने लोकसृष्टि की इच्छा से पहले पुरुष-रूप धारण किया, जो महत् आदि तत्वों से समन्वित और सोलह कलाओं से युक्त था। जल में सोया हुआ यह रूप योगनिद्रा में निमग्न था। उसी के नाभिकमल से समस्त विश्व को उत्पन्न करनेवाले अधिपति ब्रह्मा प्रादुर्भूत हुए। ब्रह्मा के अवयवों से लोक का विस्तार कल्पित हुआ। वह सत्त्वमूर्ति से उत्पन्न विशुद्ध भगवान का रूप है। सहस्त्रों चरण, जंघा, भुजाओं आदि से युक्त इस रूप को योगी चित्त एकाग्र कर अपने अन्तर्चक्षुओं से देखते हैं। उस रूप के हजारों मस्तक, श्रवण, नेत्र आदि अंग हैं और दिव्य वस्त्र, कुण्डल आदि आभूषणों से सुशोभित हैं।

विभिन्न पुराणों में इस दिव्य और परम सत्ता को अलग-अलग रूपों में वर्णित किया गया है और उसी में लय हो जाने को जीवन की परम कृतार्थता मानी गई है। वैदिक चिन्तन से पौराणिक भिन्नता मात्र रूप के अप्रकट का प्राकट्य ही है जिसमें ध्यान और समाधि के साथ श्रद्धा और भक्ति का समन्वय है। वायुपुराण इस दिव्य शक्ति को 'महेश्वर' कहता है तो 'कूर्म' शिव को ही इस परम देवत्व से जोड़ता है। विष्णु, जो कूर्म हैं, स्वयं शिव को परम सत्ता कहते हैं, पर यहाँ दोनों में अभेदत्व भी प्रतिपादित होता है। 'लिंग पुराण' ब्रह्म के तीनों रूपों-सत्ता, चेतना और आनन्द का आख्यान है जिसमें कहा गया है कि बिना सत्ता के ज्ञान (चेतना) नहीं, ज्ञान के बिना सत्ता नहीं और इन दोनों के बिना आनन्द नहीं। यह पुराण बताता है कि ज्ञान भगवान की कृपा से मिलता है और ज्ञान से योग प्राप्त होता है। योग ही मुक्ति का कारण है। यह पुराण यम नियम से विरत रहे व्यक्ति को मनुष्य नहीं मानता।

'भागवत पुराण' भक्ति को प्रतिपादित करता है। वेद, उपनिषद् और दर्शन के अत्यन्त गूढ़ तत्वों का चिन्तनात्मक विकास की दृष्टि से इस पुराण की किसी से तुलना नहीं हो सकती। जीवन का ध्येय मन-क्रम-वचन से भक्ति कर ईश्वर-प्राप्ति है और वही मुक्ति है, इसे प्रतिपादित करता भागवत ईश्वर के सर्वावतारों का वर्णन करता है। इसमें कृष्ण 'परमसत्ता' के रूप में वर्णित हैं। 'पद्म पुराण' में सभी पौराणिक तत्वों के प्रतिपादन के साथ अनेक ख्यात आख्यान भी हैं जिसमें राम की विशद् कथा भी है। 'अग्नि पुराण' में भी राम और कृष्ण की कथाएँ मिलती हैं और जीवन तथा धर्म-निरूपण के वे सूत्र भी, जो मनुष्य के जीवन को धन्य करते हैं। 'मार्कण्डेय पुराण' में दुर्गा की महिमा का विशेष महत्व है। इसी में 'दुर्गा सप्तशती' संकलित है। इस पुराण का महत्व इस कारण भी है कि इसमें यौगिक विषयों का विशद् प्रतिरूपण है। अपने नाम के अनुरूप 'विष्णु पुराण' विष्णु की महिमा का आख्यान है तो 'वामन पुराण' वामन अवतार की विलक्षण कथा। 'मत्स्यपुराण' देवासुर संग्राम के साथ-साथ अनेक कथाओं का पुंज है जिसमें ज्ञान-विज्ञान की रहस्यपूर्ण सूचनाएँ हैं। 'ब्रह्माण्ड पुराण' तात्विक प्रतिपाद्यों के साथ योग का अपूर्व

वर्णन करता है, तो 'गरुड़ पुराण' जीवन-मुक्ति का कर्ममय-फल निर्देश करता है। इसी तरह 'वराहपुराण' नैमित्तिक और काम्य व्रतों का निरूपण करता है तो 'भविष्य पुराण' नित्य, नैमित्तिक तथा दैनिक पुण्य कर्मों से मनुष्य की मुक्ति का रहस्य बताता है। 'ब्रह्मवैवर्त्त' में परमब्रह्म का निरूपण, 'ब्रह्म' में सूर्य के महत्व का प्रतिपादन, 'नारद' में वैष्णवों के अनुष्ठानादि का वर्णन तथा 'स्कंद' में वैदिक-औपनिषदिक् विचारों के साथ अनेक खंडों में नाना कथाएँ विन्यस्त हैं जो भारतीय मनीषा के अक्षय-ज्ञान से भरी हुई हैं।

पुराण भारतीय चिन्तन के मील स्तंभ हैं जिनमें वेदों और उपनिषदों के सम्यक् चिन्तन का विशद् विश्लेषण तो है ही, उनके सूत्रों का विकास भी है जिसे हम धर्म, कर्म, नीति, तपश्चर्या, स्वधर्म, मुक्ति, भक्ति, बोध आदि पदों-प्रत्ययों में समझ सकते हैं। पुराणों में आगम-निगम के बहुविध ज्ञान-शाखाओं का विकास हुआ जिसमें न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र सहित अंगविद्याओं और आगम विद्याओं[34] का विस्तृत विवेचन शामिल है। इसके अतिरिक्त दिव्यविद्याएँ और सिद्धियाँ हैं जिनका दिग्दर्शन पुराणों का एक उल्लेखनीय प्रतिपाद्य है। ज्ञातव्य है कि दिव्यविद्याएँ आत्मा या स्व-चेतना से सम्बंध रखती हैं। इसके अन्तर्गत मन और इन्द्रियों द्वारा चेतना के प्रेरणास्वरूप बल की प्राप्ति होती है। ऋषियों को ज्ञात था कि आत्मबल को केन्द्रित किये बिना न मन वश में होता है, न इन्द्रियाँ ही। इसके कारण मनुष्य की शक्ति अनेक दिशाओं में भटक कर उसे अर्थहीन और शक्तिहीन बना देती है। दिव्यविद्याएँ दूसरे शब्दों में ऐसी सिद्धियाँ हैं जो यौगिक क्रियाओं द्वारा मनुष्य को प्राप्त होती हैं। यह सिद्धियाँ हैं- अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व। इसके अतिरिक्त प्राणों के संयम से सिद्ध होनेवाली सिद्धियाँ भी आठ ही हैं- काय-व्यूह (विभिन्न रूप धारण), परकाय-प्रवेश, प्राण संहारिणी, मृत संजीवनी, स्थाणूज्जीवनी, छायाग्रहणी, आकृति तथा लिंग परिवर्तन।

कहना चाहिये कि पुराण न केवल मनुष्य को धर्म प्रेरित कर श्रद्धावान बनाते हैं, वरन् उसकी अपनी युक्तियों से अनेक सिद्धियों की राह सुझाते हैं। जीवन कैसे कृतार्थ हो, कैसे वह ब्रह्म निवेदित होकर समस्त जगत को अपने में समाहित कर सके, कैसे वह चिर आनन्द को उपलब्ध कर सके और कैसे मुक्तिकामी होने की पात्रता अर्जित कर सके, यह सीख देते हुए पुराण मनुष्य के आत्म को विगलित होने से बचाने का प्रयत्न करते हैं। उन्हें केवल धर्मशास्त्र के रूप में देखना उनके प्रतिपाद्य को न समझना है। यह भी लक्षित किया जा सकता है कि पुराणों की विविध कथाओं-उपकथाओं में ऐसे ही मनुष्यों की गाथाएँ हैं जिन्होंने अपने सत्कर्म से देवत्व अर्जित किया है। नाना प्रकरणों, विमर्शों और आख्यानों के साथ पुराण जिन सूक्ष्मतम ज्ञानसरणियों की मीमांसा करते हैं उन्हें 'सम्बंध भेद' के स्तर पर समझें तो 'स्थानावरोध' - अपने आश्रय के साथ रहना, जैसे घड़े में भरा हुआ जल घड़े को आश्रय मान उसे नहीं छोड़ता; 'समञ्जस' - काल, दिक् आकाश और अनन्त आत्मा सामंजस्य के साथ एक हो रहते हैं, जैसे स्थितियाँ उनकी अनेक हैं; 'ऐक्यभाव' - दो का मिलकर किसी नई वस्तु को जन्म देना, जैसे- भक्ति या श्रद्धा से जीव और ब्रह्म एक होकर प्रकाश को सिरजते हैं जो आत्मा से उद्भाषित होता है। 'ऐकात्म्य' भी एक दूसरे में विलीन होना है जो सम्बंध की अनन्यता है। अंतिम सम्बंध है 'भक्ति', जो मनुष्य की आत्मा को दिव्य प्रकाश से भर देती है और 'जीव' (मनुष्य) उस रस को प्राप्त करता है, जो अमृत स्वरूप है, उसका कभी क्षय नहीं होता-

'अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्।
मृत्युर्विवस्वन्तं वस्तेमृत्योरात्मा विवस्वति।।'

यानी यहाँ बल मृत्यु है; क्योंकि उसका स्वभाव मरणशील है। रस अमृत है, क्योंकि वह अक्षुण्ण और एकरूप है, उसमें विनाश का सम्बंध नहीं है। मृत्यु के भीतर अमृत का प्रविष्ट होना वस्तुतः मृत का अमृत में विलीन होना है, उसमें प्रविष्ट होकर अपना अस्तित्व मिटा देना है। मृत यानी मृत्यु मायारूपा है जो अमृत यानी ब्रह्म के भीतर ही अवस्थित

रहती है। जीव को इसी अमृत-प्राप्ति की सिद्धि करनी चाहिये ताकि वह ब्रह्ममय होकर अपने वास्तविक स्वरूप को पा सके। पुराण इस प्राप्ति के लिए संन्यासवाद का प्रश्रय नहीं लेते। वे मनुष्य के कर्मों पर केन्द्रित होते हैं, उसके आचरण को थाहते हैं और तब उसके जीवन की धन्यता के उन सोपानों से परिचित कराते हैं जहाँ से वह अपने में जगत् और जगत् में स्वयं को देख पाता है। निसन्देह पुराण, वैदिक चिन्तन और औपनिषदिक निहितार्थ को बड़े आयामों में खोलते हैं जिससे उसके उत्कर्ष की अनेक नई संभावनाएँ दिखाई देती हैं।

वेदोत्तर साहित्य में चिन्तन के विकास की एक सम्यक् धारा गोस्वामी तुलसीदास के यहाँ दिखती है जिसकी उपलब्धि है- 'रामचरितमानस'। 'नाना पुराण निगममागम सम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि' कहकर तुलसीदास ने अपने अंत:करण के सुख के लिए 'मानस' की रचना की। इसमें वेद, वेदांग, उपनिषद्, स्मृतियाँ, संहिताएँ और वे सभी स्मरणीय ग्रंथों का सार है जो मनुष्य-मात्र को उसके जीवन की सिद्धि देते हैं; कदाचित इसीलिए वैदिक और वेदोत्तर चिन्तन के विकास में इस ग्रंथ का अपना वैशिष्ट्य है। तुलसीदास ने इसमें समाज के लिए आचार संहिताएँ निर्धारित कीं। इन संहिताओं में चरित्र, आचरण, रिश्ते-नातों के प्रति अपेक्षित बर्ताव, धर्माचरण, मिथ्याभाषण से परहेज, अहिंसा, दयाशीलता, स्वधर्म पर दृढ़ता जैसे मूल्य शामिल हैं जो जीवन की कृतार्थता के आदर्श हैं। तुलसीदास के वैचारिक आदर्श को यदि हम धार्मिक आईने में ही देखेंगे, तो उसके महत्व को या तो कम करेंगे या उसके अर्थ को सरलीकृत करके समझने का प्रयास करेंगे। वे आदर्श मनुष्य के समग्र विकास के सूत्र हैं और हमारे खंडित और विभाजित आत्म के सबसे कारगर उपचार भी हैं। हम जी रहे हैं और जी पायेंगे, इस तरह कि हम एक मनुष्य हैं, तो इसमें हमारे अध्यात्म की, हमारी आध्यात्मिक चेतना की बड़ी भूमिका होगी; और हमेशा रही है। तुलसीदास ने खंडित भारतीय आत्म को उसकी आध्यात्मिक चेतना से सम्पन्न कर उसे सम्पूर्ण बनाने की चेष्टा की। कहना न होगा कि भारतीय मन की द्विधा और खंडित आत्म ने ही उसे बार-बार पराभूत किया और वह जैसे-जैसे अपने

को भूलता गया, क्षरित हुआ। वह अपनी चेतना से विलग हुआ, क्योंकि उसकी चेतना एक समग्र आत्म में ही रह सकती थी। सम्पूर्ण आत्म अपने होने के अर्थ और दिक्काल में अपनी भूमिका की खोज से ही मिलती है। तुलसीदास ने वैदिक चिन्तन के सूत्रों का विकास कर जो संहिता निर्धारित की, उसमें समग्र जगत् को ईश्वरीय सृष्टि मानकर अपने आत्म में जीने और सबको अपने में पाने का भाव है। यह वह 'आस्तिक प्रकाश' है जो हर क्षण आस्थाजनित आनंद में प्रकट होता है। ईश्वर या परम सत्ता एक प्रकाश, 'आस्तिक प्रकाश' की ही तरह वहाँ उपस्थित है- ईश्वर की शरण में जाना, ईश्वर को अपने आत्म में अनुभूत करना वस्तुतः अधिकाधिक श्रद्धावनत होना है- हर क्षण उसे अपने में अनुभूत कर समस्त प्राणियों के कल्याण के प्रति समर्पित होना। 'सियाराममय' होना या समस्त जगत को 'सियाराममय' मानना साम्प्रदायिक भाव नहीं, जागतिक भाव है, अधिकाधिक अपने आत्म को परमात्मा बना सकने की प्रक्रिया में क्रमशः बढ़ते हुए 'सत्त्व' होने या पा सकने का भाव।[35]

'मानस' में राम एक स्थल पर नारद से संवाद के क्रम में उनके पूछने पर सन्तों के जो लक्षण बतलाते हैं, वे उन मनुष्यों के जीवन को कृतार्थ करनेवाले हैं जो अपने संकुचित और विगलित आत्म से बाहर आना चाहते हैं। यह वैदिक और औपनिषदिक चिन्तन का विकास ही है जिसे व्यावहारिक धरातल पर प्रतिष्ठित कर तुलसीदास ने रामकथा के आख्यान में विन्यस्त किया है। राम द्वारा संतों के लिए बताये गए लक्षण हैं- काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर-इन छह विकारों को जीतकर, पाप रहित, कामना रहित, निश्छल, अकिंचन, बाहर-भीतर से पवित्र, सुख के धाम, असीम ज्ञानवान, इच्छारहित, मिताहारी, सत्यनिष्ठ, कवि, विद्वान, योगी, सावधान, दूसरों को मान देनेवाले, अभिमान रहित, धैर्यवान, धर्म के ज्ञान और आचरण में निपुण, गुणों के घर, संसार के दुःखों से रहित और संदेहों से सर्वथा विरत जो रहता हो, वही संत है यानी वह मनुष्य, जो परमार्थिक है-

'षट् बिकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुख-धामा।।
अमित बोध अनीह मितभोगी। सत्यसार कवि कोबिद जोगी।।
सावधान मानद मदहीना। धीर धर्म गति परम प्रबीना।।
गुनागार संसार दुख रहित बिगत संदेह।
तजि मम चरन सरोज प्रिय तिन्ह कहुँ देह न गेह।।'[36]

इसके साथ-साथ न्याय, श्रद्धा, क्षमा, मैत्री, दया, मुदिता, वैराग्य, विवेक, विनय, तत्वज्ञान, अहिंसा, सत्य आदि गुणों को धारण करनेवाले मनुष्यों का वर्णन कर राम अनेक स्थलों पर उन महत् मानवीय गुणों की चर्चा करते हैं जिनके न होने से मनुष्य अधोगति को प्राप्त होता है और उसका जीवन-अर्थ-व्यर्थ हो जाता है। भारतीय चिन्तन जाति, काल, व्यक्ति और देश-निरपेक्ष है, इसलिए समूची धरती उसका परिवार है। वह परार्थ और स्वार्थ के परस्पर दो खंडों में ऐक्यभाव को लेकर चलता है, इसलिए उसका 'स्व' तब तक पूर्ण नहीं होता, जब तक उसमें पूर्ण नहीं जुड़ता। इस तरह उसका 'स्व' अपना अर्थ भी परमार्थ से पाता है। यह चिन्तन प्रत्यक्ष से अधिक आत्म से जुड़ता है, इसलिए इससे आत्मप्रत्यभिज्ञान का अधिक महत्व है। इस खंड-खंड का एक दिखना, परस्पर वैषम्य के बावजूद समभावता और समभावता में परमात्म भाव का पाना ही इसका मूल है, जिसे सात्विक कहा गया है-

'सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं सात्त्विकम्।।'[37]

कहना न होगा कि यही खंड-खंड में अखंड और स्थितित्व में निरन्तरता की सहजता, सहज मार्ग का अनुगमन है जिसमें चलते रहें, किन्तु चल रहे हैं, यह आभासित न हो, कर्मरत हों, पर कर्तापन का आभास न हो और यह सब परमार्थ भाव में घटित प्रक्रिया है जिसमें कोई पराया नहीं है। इसी को कह गया है-

'यस्मिन सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।'[38]

अर्थात् जहाँ अनुभव ज्ञान प्राप्त साधक की आत्मा ही सर्वभूत बन गई हो, वहाँ निरन्तर एकात्म देखनेवाले उस साधक को कैसा मोह, कैसा शोक!

यह निरन्तर अनासक्ति निरन्तर अपने में कल्याणकारी गुणों के अर्जन और दुर्गुणों को दूर करने की प्रार्थना भी है जिसके लिए विश्व-निर्मात्री शक्ति से कहा गया है-

'ओम् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद् भद्रं तन्न आ सुव।'[39]

यानी समत संसार को उत्पन्न करनेवाले हे ब्रह्मस्वरूप सविता देव! आप हमारी सभी बुराइयों और पापों को हमसे बहुत दूर ले जायें, किन्तु जो भला, कल्याण, मंगल और श्रेय है, उसे हमारे और विश्व के सभी प्राणियों के कल्याण के लिए प्रदान करें।

लेकिन यह पात्रता पाना बहुत कठिन है, क्योंकि उस साधक की आत्मा को सर्वभूत होना चाहिये, जीवन में कर्मरत रहते हुए भी अनासक्ति का भाव बिना आत्म-प्रत्यभिज्ञा और वैराग्य के संभव ही नहीं। तुलसीदास कहते हैं (प्रसंग लक्ष्मण से राम के संवाद का है)-

'मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हें जीव निकाया।।
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहुँ भाई।।
तेहि कर भेद सुनहु तुम सोऊ। विद्या अपर अबिद्या दोऊ।।
एक दुष्ट अतिशय दुःख रूपा। जा बस जीव परा भवकूपा।।
एक रचई जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निजबल ताकें।।
ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं।।
कहि तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी।।
माया ईस न आपु कहुँ जान कहिअ सो जीव।

बन्ध मोच्छप्रद सर्ब पर माया प्रेरक सीव।।'[40]

अर्थात् मैं और मेरा, तू और तेरा–यही माया है, जिसने समस्त जगत को, जीवों को अपने वश में कर रखा है। इन्द्रियों के विषयों को, और जहाँ तक मन जाता है, हे भाई! उस सबको माया समझना। उसके भी दो भेद हैं– एक विद्या, दूसरी अविद्या। पहली जो अविद्या है, वह दुष्ट है और दुखरूप है जिसके वशीभूत होकर जीव संसार रूपी कुएँ में पड़ा रहता है। दूसरी विद्या है जिसके वश में गुण है और वह जगत् की रचना करती है। वह ईश्वर से प्रेरित है। ज्ञान वह है जहाँ मान आदि एक भी दोष नहीं है। जो सबको समान रूप से देखता है; हे तात! उसी को वैरागी समझना चाहिये जिसने सारी सिद्धियों और तीनों गुणों[1] को तृण के समान त्याग दिया है। जो माया, ईश्वर और स्वयं के स्वरूप को भी नहीं जानता, वही जीव है। जो कर्मानुसार मनुष्य को बंधन और मुक्ति देने वाला है, जो सबसे परे, माया का प्रेरक है, वही ईश्वर है।

यह ज्ञान और ईश्वर की प्राप्ति के अनुकूल बनाने की सतत् प्रक्रिया ही वस्तुतः भारतीय चिन्तन का सार है जो सर्वात्म को आत्मभूत में देखती है और सर्वमय दृष्टि से पूरी वसुधा को अपना कुटुम्ब मान लेती है। देह से विदेह होते जाने की समस्त प्रक्रिया को तुलसीदास ने उसी भाव से दिखाया है जो वैदिक चिन्तन और औपनिषद्दिक परम्परा से उन्हें मिली है। वे उसका सतत् विकास करते हैं और बताते हैं कि इसी में जीवन की समग्र सम्भावनाएँ हैं तो वह प्राप्तियाँ भी, जो मानव–मात्र की आत्यन्तिक सार्थकता हो सकती है और परमार्थिक सत्य की प्राप्ति भी।

तुलसीदास ने भारतीय वैदिक चिन्तन को संस्कृति की निरन्तरता और अखंडता को दर्शन के अभिगमों से जोड़ते हुए भी दिखाया है। भारतीय चिन्तन में जीव ही केन्द्र में होता है जिसको दुखों से निवृत्त करना ही उसका मूल ध्येय है। जीवन नाना तापों, संतापों; जिनमें

[1] यह तीन गुण हैं– सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण।

दैहिक, दैविक और भौतिक ताप शामिल हैं, को दूर करने का यत्न, जिससे वह दुखमुक्त हो। इस पर विचार करते हुए तुलसीदास अखंड ईश्वर से ज्ञान और भक्ति के माध्यम से जीव को मिलाते हुए उसे हर क्षण ब्रह्ममय यानी जगत्मय देखना चाहते हैं और सहज पथ का अनुगमन करते हुए उसे निरन्तरता में पाना चाहते हैं। यह भारतीय मनीषा का अनुसन्धान है जिसे तुलसीदास मानस के कथात्मक विन्यास में बाँधकर उसका पुनर्वास करते हैं। इस क्रम में यह भी देखना चाहिये कि मनुष्य को उसकी मुक्ति की प्रक्रिया में देखते हुए भी वे समाज-सापेक्ष ही रहते हैं। वे व्यक्ति के निजस्व का विलय भी समष्टि में ही करते हैं और उसके किये-धरे का फलितार्थ भी समाज में ही देखते हैं।

समस्त वैदिक चिन्तन, उपनिषदों के विचार, स्मृतियों-संहिताओं तथा वेदोत्तर वाङ्मय का आशय यही है कि परमसत्ता के अखंड और प्रचंड दीपक की लौ को प्रज्ज्वलित मान, उसके सुख-रूपी सुन्दर प्रकाश में मनुष्य आत्मानुभव प्राप्त करे जिससे स्व-पर के भेद से, भ्रम से वह मुक्त हो जाये। वह सब में अपने को विलीन कर दे, अनासक्त भाव से कर्मरत रहते हुए जीवन जिए और हर क्षण अपने को धन्य अनुभूत कर सके, यही परमार्थिकता का सत्य है, कदाचित् उसके स्वराज का जगत् भी, जो स्वधर्माचरण से निर्मित होता है-

'सोहस्मि इति बृति अखंडा। दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा।।
आतम अनुभव सुख सु प्रकासा। तब तव मूल भेद भ्रम नासा।।'*

---

*'सोहस्मि' यानी वह ब्रह्म मैं हूँ, का निरन्तर भान होना और उसकी निरन्तर प्रज्ज्वलित प्रचंड दीपशिखा की लौ को निरन्तर देखना; जिसमें 'आत्म' के अनुभव का सुन्दर प्रकाश है। वही सुख का मूल है, क्योंकि वह स्व-पर के भ्रम का नाश करता है।

सन्दर्भ और टिप्पणियाँ

1. 'महाभारत-मीमांसा', चिन्तामणि विनायक वैद्य, हरियाणा साहित्य अकादमी, संस्करण-1990, पृ. 16
2. 'रामायण : एक पुनर्यात्रा' - राधावल्लभ त्रिपाठी, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, संस्करण-2011, पृ. 11
3. 'वाल्मीकि रामायण', बालकाण्ड, प्रथम सर्ग, श्लोक-1-7
4. वही, श्लोक-8-9
5. वही, अरण्यकाण्ड, सर्ग-74, श्लोक-8-9
6. 'रामकथा नवनीत' - डॉ. पाण्डुरंग राव, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, संस्करण दूसरा-2016, पृ. 210
7. 'वाल्मीकि रामायण', अरण्यकाण्ड, सर्ग-74, श्लोक-11-12
8. 'रामकथा नवनीत', पृ. 210
9. 'वाल्मीकि रामायण', अयोध्याकाण्ड, सर्ग-19, श्लोक-20
10. वही, अयोध्याकांड, सर्ग-106, श्लोक-4, 4/4
11. 'रामकथा नवनीत', पृ. 27
12. 'महाभारत', आदिपर्व, 56/21
13. 'महाभारत', स्वर्गारोहण, 5/63, उद्योग, 40/11-12

14. 'भूमिका' (भारत सावित्री) - वासुदेवशरण अग्रवाल, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, संस्करण 2021, पृ. 23-24

15. 'महाभारत', वनपर्व, 4/4

16. वही, शान्तिपर्व, 100/2

17. वही, 259/3

18. वही, अनुशासन पर्व, 104/9

19. वही, 155/33

20. वही, शान्तिपर्व, 180/12

21. वही, 199/64-66

22. वही, आदिपर्व, 62/53

23. 'भारत सावित्री' - वासुदेवशरण अग्रवाल, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, संस्करण-2021, पृ. 470

24. 'गीता रहस्य' - बाल गंगाधर तिलक, अनुवाद-माधव राव सप्रे, डायमंड बुक्स, दिल्ली, पृ. 19-20

25. 'गीता माता' - महात्मा गाँधी, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, संस्करण-छठवाँ-1995, पृ. 9

26. 'गीता', अध्याय-13, श्लोक-7-11

27. 'पुराण-परिशीलन' - पंडित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, संस्करण-1970, पृ. 1

28. 'अथर्ववेद', काण्ड-15, अनु. 01, सूक्त-6

29. 'पुराण-परिशीलन', पृ. 2-3

30. 'भागवत् महात्म्य', द्वितीय स्कंध, दसवाँ अध्याय, श्लोक-1-9, गीताप्रेस, गोरखपुर

31. 'वायु पुराण', अध्याय-42, श्लोक-109-110

32. 'विष्णु पुराण', अध्याय-2, श्लोक-13

33. 'भागवत पुराण', अध्याय-1, श्लोक 3-4

34. अंगविद्या से तात्पर्य यहाँ शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द से है जो वेदांग कहे जाते हैं। आगम विद्याओं में- कल्प, सिद्धान्त, संहिता, तंत्र, यामल और डामर का उल्लेख किया जाता है।

35. 'तुलसीदास का स्वप्न और लोक' - ज्योतिष जोशी, सेतु प्रकाशन, नोएडा, संस्करण-2021, पृ. 114-115

36. 'रामचरितमानस', अरण्यकाण्ड, 44/4-5/45

37. गीता, अध्याय-18, श्लोक-20

38. 'ईशावास्योपनिषद', खंड-3, श्लोक-7

39. 'ऋग्वेद', 5/82/5

40. 'रामचरितमानस', अरण्यकाण्ड, 14/1-4/15